RESEARCH PAPER | Literature | Volume : 4 | Issue : 3 | Mar 2014 | ISSN - 2249-555X

Jain Dharm Me 'Dhyanyog'

जैन धर्म में 'ध्यानयोग'

KEYWORDS

DR ANUBHA JAIN

persuing D.lit, YAMUNANAGAR - 135001, HARYANA

मनुश्य एक सामाजिक प्राणी भी है और संवेदनषील प्राणी भी। वह जिस वातावरण में और जिन लोगों के बीच रहता है, उनसे वह किसी न किसी प्रकार से अवष्य प्रभावित होता है। सांसारिक अनुभव और संसार का समस्त व्यापार भ्रम के चक्र के कारण ही है और भ्रम के इस चक्र की ध्ुरी है–मानव मन। मनुश्य के मन में संसार के विभिन्न जीवों के प्रति विभिन्न प्रकार की प्रतिक्रियाएँ व भावनाएँ उत्पन होती हैं। जैन ध्र्म में इन भावनाओं को– मैत्री, प्रमोद, करुणा और माध्यस्थ– कहा गया है। 'तत्त्वार्थाध्गिमसूत्रा' में इन भावनाओं का उल्लेख इस प्रकार किया गया है कि प्राणिमात्रा में मैत्री, अपने से अध्कि गुणवालों में प्रमोद, क्लिष्यामान्, दुःख व पीड़ित जीवों में करुणा–भाव और नास्तिक व अध्र्मी जीवों में तरस्थता की भावना रखनी चाहिए।[1]

इन चारों भावनाओं को प्राचीन भारतीय परम्परा में धर्मिक आचार–विचार का आवष्यक अंग एवं ध्र्मध्यान की आधरषिला माना गया है। पतंजलि के योगसूत्रा में इन्हीं भावनाओं का उल्लेख मैत्राी, करुणा, मुदिता और उपेक्षा के नाम से किया गया है।[2] उनके अनुसार सुखी, दुःखी, पुण्यात्मा और पापी जीवों के प्रति क्रमषः मित्राता, दया, प्रसन्नता और उपेक्षा की भावना करने से चित्त में निर्मलता आती है। इससे क्रोध्, मान, माया आदि चित्त के विकार दूर होते हैं जिससे ध्यान स्थिर होता है तथा अन्त में जीव मोक्ष गति प्राप्त करता है। अतः व्यक्ति का कर्त्तव्य है कि वह विवेक का प्रयोग करके तथा कामनाओं का त्याग करके[3] मन को स्थिर करे। जब प्रयास करके मन को स्थिर कर लिया जाता है तो स्थिरता की गति, सभी पीड़ा और दुःख लिप्त हो जाते हैं।[4] चित्त निरोध् अर्थात् मन को वष में कर लेना संसार के चक्र की गति से उत्पन्न होने वाले रोगों का सर्वोत्तम एवं सरल उपाय है। जब चित्त अर्थात् चेतना, चित्त अर्थात् मन से स्वतन्त्रा या मुक्त हो जाता है तो यह षुद्वात्मा, पवित्रा बन जाता है। मानसिक प्रक्रियाओं एवं षारीरिक क्रियाओं को वष में कर लेने में ही सर्वोत्तम अवस्था निहित है।[5] परन्तु मन पर नियन्त्राण किए बिना अन्तर्मुखी ध्यान का अभ्यास करना सम्भव नहीं है और ध्यान के बिना मुक्ति की प्राप्ति सम्भव नहीं।

सांख्य और योग में बहिर्मुख हो कर संसार चक्र में घूमने के कारण अविद्या, अस्मिता, राग, द्वेश और अभिनिवेष क्लेष तथा सकाम कर्म बताए गए हैं और इसी क्रमानुसार अश्टाङ्ग. योग को अन्तर्मुख होने का साध्न कहा गया है। ये यम, नियम, आसन, प्राण ायाम, प्रत्याहार, धरणा, ध्यान, समाध्– 8 योग के अङ्ग. हैं।[6] इनमें से धरणा, ध्यान, समाध्– साक्षात् सहायक होने से योग के अन्तरङ्ग. साध्न कहलाते हैं तथा यम–नियम आदि योग के बाध्क हिंसादि वितर्कों को निर्मूल करके समाध्ि को सि(करते हैं जिससे प्राणायाम की स्थिरता होती है।

मन को नियन्त्रित करना ही अन्तर्मुखी साध्ना का मूल है। मन को वष में करने पर ही चित्त में षु(ता आती है। ध्यान स्थिर होता है, विवेक में वृ(आती है और साध्क आत्मलीन हो कर मुक्ति प्राप्त करता है।

चित्त वृत्ति मात्रा से किसी स्थान विरोश में बाँध्ना 'धरणा' कहलाता है।[7] चित्त बाहर के विशयों को इन्द्रियों द्वारा वृत्तिमात्रा से ग्रहण करता है। ध्यानावस्था में जब प्रत्याहार द्व ारा इन्द्रियाँ अन्तर्मुखी हो जाती हैं, तब भी वह अपने ध्येय– विशय को वृत्ति–मात्रा से ग्रहण करता है। अतः आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार आदि द्वारा जब चित्त स्थिर हो जाए, तब उसको अन्य विशयों से हटाते हुए एक ध्येय–विशय में वृत्तिमात्रा से बाँध्ना ही 'ध् ारणा' कहलाता है। अतः धरणा द्वारा वित्त के मूढ़ और क्षिप्तरूप तमस् और रजस् को हटा कर उसको सात्विक रूप में वृत्ति मात्रा से किसी एक विशय में स्थिर करके दिव्य बनाना होता है।

जैन दर्षन में ध्यान की सि(के लिए मन को बाहरी विशयों से हटाने और इसे वष में करने पर जोर दिया गया है परमार्थ की प्राप्ति अन्तर्मुखी ज्ञान द्वारा होती है। यह ज्ञान ही अज्ञानजनित कर्मों का नाष कर मोक्ष की प्राप्ति कराता है। यह ज्ञान केबल ध्यान द्व ारा ही प्राप्त किया जा सकता है। स्पश्टतः जैन ध्र्म की साध्ना में ध्यान का स्थान सबसे ऊँचा है। इसकी सर्वोच्चता 'शिभासित' में स्पश्ट रूप से उल्लिखित है।[8] यथा षरीर में षीर्श का और वृक्ष में जड़ का महत्त्व है, क्योंकि ध्यान के बिना व्युत्सर्ग अर्थात् षरीरादि में 'मै–मेरा' के भाव का त्याग नहीं होता और व्युत्सर्ग के बिना षरीर संसार, कशाय और कर्म से मुक्ति नहीं होती है।[9] 'श्रीमद्भागवद्गीता' में मन का विशयों में भटकने को ही सभी प्रकार की पीड़ाओं, कश्टों एवं दुःखों का मूल बताया गया है।[10] मन को विशयों से पूर्णतः हटा लेना ही 'ध्यान' है। जब मन की गति धीमी व गहरी हो जाती है, वही ध्यान है। अतः वृत्ति का एक–सा ;घटो{यम् घटो{यम् आदिद्ध बना रहना 'ध्यान' है।[11] धरणा में चित्त जिस वृत्ति मात्रा से ध्येय में लगता है, जब वह वृत्ति इस प्रकार समान प्रवाह से लगातार उदय होती रहे कि दूसरी कोई और वृत्ति बीच में न आए, तब उसे ध्यान कहते हैं। पतंजलि के अनुसार जो अभिमत हो, उसके ध्यान से मन की स्थिति बंध् जाती है।[12] भिन्न–भिन्न मनुश्यों की भिन्न–भिन्न रुचियाँ होती हैं। इस कारण जिसकी जिसमें षास्त्रीय मर्यादानुसार सात्विक श्र(हो, उसमें ध्यान लगाने से चित्त एकाग्र हो जाता है। स्पश्टतः चित्त में एकाग्रता की योग्यता प्राप्त हो जाए तो उसे जहाँ चाहे लगाया जा सकता है। ऐसे स्वरूप वाला तथा ध्यानयोग से युक्त अन्तः करण वाला योगी समत्व का भाव रखता है।[13]

अतः अपने अन्तर में चित्त को एकाग्र भाव से स्थिर रखने के लिए तन मन और बचन–तीनों को बिल्कुल निष्चल एवं स्थिर रखना आवष्यक है। इन तीनों की क्रियाओं को रोकने या बन्द करने को जैन ध्र्म में त्रियोग का निरोध् करना कहते हैं। इस त्रियोग–निरोध् से ही आत्मलीनता की अवस्था प्राप्त होती है। यही 'परम' ध्यान है।[14]

ध्यान की गहरी अवस्था में ध्याता ;ध्यान करने वालाद्ध षरीर में रहते हुए भी षरीर और जगत् से असंग, अतीत या अनासक्त हो जाता है। ध्यान ही वह विध्ि है, जिसके द्वारा हम सीध्े अपने ही सम्मुख होते है, इसे ही आत्म–साक्षात्कार कहते हैं। ध्यान जीव में 'जिन' का आत्मा से परमात्मा का दर्षन कराता है।[15]

ध्यान में ध्याता, ध्यान और ध्येय की त्रिपुटी बनी रहती है। जिस विशय में चित्त को वृत्ति मात्रा से स्थिर किया जाता है, उस वृत्ति को अस्थिर करने रजस् और और प्रमाद उत्पन्न करने वाले तमस् को हटा कर चित्त को उस सात्विक एवं दिव्य रूप से लगातार उस एक वृत्ति में ही स्थिर करना होता है।[16] श्रीमद्भागवद्गीता में भी उल्लिखित है कि ऐसे ही व्यक्ति के पापों का नाष होता है। रजोगुण तथा मन सर्वथा षान्त होने से ऐसे ब्रह्मस्वरूप योगी को निष्चित रूप से सुख की प्रप्ति होती है।[17]

स्पश्टतः चित्त की एकाग्रता और स्थिरता को ही ध्यान कहा जाता है।[18] इस एकाग्रता का क्रमिक विकास होता है। प्रारम्भ में चित्त कतिपय क्षणों के लिए ही एकाग्र होता है। षनैः–षनैः दृढ़तापूर्वक प्रयत्न जारी रखने पर एकाग्रता में कुछ अध्कि स्थिर हो जाती है कि यह तल्लीनता में बदल जाती है। तब ध्याता ;ध्यान करने वालाद्ध – ध्येय ;ध्यान किए जाने वाले पदार्थद्ध में लीन हो जाता है अर्थात् ध्याता ध्येय से एकाकार हो जाता है। इस प्रकार मुख्य रूप से एकाग्रता की ये तीन अवस्थाएँ होती हैं। पतंजलि ने अपने योग षास्त्रा में इन अवस्थाओं को क्रमषः धरणा, ध्यान और समाध्ि कहा है, परन्तु जैन ध्र्म में 'ध्यान' षब्द को व्यापक अर्थ में ग्रहण किया जाता है जिसमें एकाग्रता की प्रारम्भिक अवस्था से लेकर पूर्ण तल्लीनता तक की सभी अवस्थाएँ षामिल हैं। यही कारण है कि जैन ध्र्म में 'योग' अर्थात् 'चित्तवृत्तिनिरोध्' और 'समाध्ि अर्थात् ध्याता और ध्येय की एकरूपता–दोनों ही षब्द 'ध्यान' षब्द के पर्यायवाची माने गए हैं। 'आदिपुराण' में ध्यान के समानार्थक षब्दों का भी उल्लेख मिलता है यथा – योग, ध्यान, समाध्ि, वृ(की चंचलता रोकना, स्वान्त निग्रह अर्थात् मन को वष में करना और अन्तः संलीनता अर्थात् आत्मा के स्वरूप में लीन होना आदि।[19] आदिपुराण भी ध्यान को ही मुक्ति का कारण स्वीकार करता है।[20] स्पश्टतः जब केवल ध्यान का केन्द्र ही षेश रह जाता है, षेश सभी षून्य हो जाता है तो उसे 'समाध्ि कहते हैं। समाध्ि ही अन्तिम उद्देष्य है, धरण व ध्यान उसके मार्ग हैं। पतंजलि के अनुसार वह ध्यान ही समाध्ि कहलाता है जब उसमें केवल ध्येय अर्थमात्रा से भासता है और ध्यान का स्वरुप षून्य जैसा हो जाता है।[21] ध्येय–विशयक ध्यान ही अभ्यास के बल से जब अपने ध्यानाकार रूप से रहित जैसा हो कर प्रकाषित होने लगे तब वह समाध्ि कहलता है। जितना ध्यान बढ़ता जाता है उतनी ही उस वृत्ति में ध्येय स्वरूपाकारता बढ़ती जाती है और ध्यातृ तथा ध्यान उसके प्रकाषन करने में अपने स्वरूप से सर्वथा षून्य जैसे होते जाते हैं। जब ध्यान इतना प्रबल हो जाए कि ध्यातृ और ध्यान अपने स्वरूप से सर्वथा षून्य जैसे हो कर ध्येय–स्वरूपमात्रा से प्रतीत होने लगे और ध्येय का स्वरूप ध्यातृ और ध्यान से अभिमत हो कर ध्येयाकार–वृत्ति में सम्पूर्णता से भासने लगे तो ध्यान की इस अवस्था को समाध्ि कहते हैं। 'तत्त्वार्थवार्तिक' में भी इस तथ्य का उल्लेख मिलता है।[22] जिस विशय में चित्त को वृत्ति मात्रा से ध्यान में अविच्छिन्नता के साथ लगाया है, उस ध्येयाकार वृत्ति को जो रजस् ध्यान और ध्यातृरूप आकारता में ले जा रहा है और तमस् जो उस ध्यान और ध्यातृरूप आकारता को रोके हुए है, उस लेषमात्रा रजस् और तमस् को भी हटाकर समाध्ि में चित्त का उस सात्विक ;दिव्यद्ध रूप में ध्यातृ और ध्यान से षून्य जैसा हो कर केवल ध्येयाकारन्ता से भासित होता है।

ध्यान अन्तर्मुखी साध्न है। जब तक इन्द्रियाँ बाहरी विशयों में संलग्न रहती है तब तक न मन अन्तर्मुख हो सकता है और न एकाग्रता ही आ सकती है। ध्यान के विकास द्वारा ही पूर्ण ज्ञान या सर्वज्ञता की प्राप्ति होती है और पूर्ण ज्ञान द्वारा मोक्ष की प्राप्ति होती है। इस ज्ञान को प्राप्त करने का एकमात्रा साध्न ध्यान ही है। केवल अर्हत् देव ही मानव मन,

Volume : 4 | Issue : 3 | Mar 2014 | ISSN - 2249-555X

वचन और काय की षु(के उपायों तथा ध्यान के सभी भेदों और उनके अभ्यास की पूरी विधि को विस्तारपूर्वक और स्पश्टता के साथ समझा सकते हैं। जैन धर्म के अनुसार योग ;मन, वचन और काय की क्रियाओं को अषु(रखने से कर्मो से बंध्न होता है तथा षु(योग से अवष्य यह मानव कर्मो से छूट जाता है। यद्यपि ध्यान का मार्ग कठिन है तथापि जो मुमुक्ष को गुरु–वचनों के माध्यम से इस ध्यान के मार्ग को अवष्य समझ लेना चाहिए।[23] अतः जैन धर्म के अनुसार जिन अर्थात् जिनेन्द्रिय कर्मों से निर्लिप्त होने वाले गुरु से ही ध्यान का ज्ञान प्राप्त किया जा सकता है।[24]

धरणा, ध्यान, समाधि–इन तीनों को मिला कर संयम कहा जाता है।[25] रागरहित योगी–गण के चित्त विशयक संयम करने वाला चित्त मन की स्थिति को बॉध्ने वाला होता है।[26] जब इन्द्रियों के अर्थों व भोगों में और क्रियाओं में आसक्ति नहीं रहती तथा सम्पूर्ण संकल्पों का त्याग कर देता है तो वह योगी अपने चित्त में स्थित हो जाता है।

जब सूर्य की किरणें बिखरी होती हैं तो उनमें गर्मी का अभाव होता है किन्तु जब किसी अतिषी षीषे ;बृहंण यन्त्राद्ध की सहायता से उन्हें एकाग्र कर लिया जाता है तो वे कागज को भी जला देती हैं। इसी प्रकार जब ध्यान के माध्मय से हम मन को एकाग्र कर लेते हैं तो वह षक्तिषाली हो जाता है। ध्यान के माध्यम से वह उस सुख को प्राप्त कर लेता है जो आत्यन्तिक, अतीन्द्रिय और बु(िग्राह्य है और उस सुख का अनुभव करता हुआ तथा उस सुख में स्थित होता हुआ वह कभी तत्त्व से विचलित नहीं होता।[27]

इसी को ध्यान अथवा मनः षक्ति कहते हैं। ध्यान प्रक्रिया हमारे मन और षरीर को स्थिर करती है ताकि हम अपनी अलौकिक षक्तियों को पुनर्जीवित, षु(और संचित कर सकें। स्पश्टतः ध्यान का लक्ष्य है चेतना का षु(िकरण अथवा आत्मज्ञान की प्राप्ति जिससे स्पन्दन, प्रकाष एवं जीवन षक्ति को बल मिलता है।

जिन महान् योगियों ने विशयों की अभिलाशा पूर्णतया त्याग दी है, जिसके कारण उनके चित्त से अविद्यादि क्लेषों के संस्कार मिट गए हैं, उनके चित्त का ध्यान करने वाले चित्त में भी वैसे ही सात्त्विक संस्कार उत्पन्न होते हैं और वह सुगमता से एकाग्र हो जाता है।

अश्टाङैं. योग के पहले 5 अङैं. –
बहिरङैं. साध्न सांख्य और योग में समान हैं, किन्तु जहाँ योग में सालम्बन अर्थात् धरणा, ध्यान, समाधि द्वारा किसी विशय को ध्येय बना कर अन्तर्मुख होते हैं, वहाँ सांख्य में नि. रालम्ब अर्थत् बिना किसी विशय को ध्येय बना कर अन्तर्मुख होते हैं। उसमें धरणा, ध्यान और समाधि के स्थान में चित्त और उसकी वृत्तियाँ दोनों ही त्रिागुणात्मक हैं।

अतः कहा जा सकता है कि 'ध्यान' के बिना आध्यात्मिक सफ्रफलता सम्भव नहीं। यह एक धैमी एवम् सतत् प्रक्रिया है। इस मार्ग में सफ्रफलता के लिए ध्र्य और निरन्तरता आवष्यक है। एकाग्रता ही ध्यान का सार है।

जैसे सागर में तरंगें उठती हैं, ठहरती हैं और अन्त में सागर में विलीन हो जाती हैं, उसी प्रकार यह संसार हमारे समक्ष उभरता है, ठहरता है और फ्रिफर ब्रह्म में लीन हो जाता है, जिसे हम षु(चेतना भी कह सकते हैं। ठीक उसी प्रकार मानव विवेक भी उभरता है, ठहरता है और तत्पष्चात् ब्रह्म मे लीन हो जाता है।

स्पश्टतः ध्यान में ही सर्वोत्तम सुख है। मन किसी सागर में उठती लहरों की भाँति एवं वायु के समान सदैव चलायमान है। मन अत्यन्त चंचल दृढ़ एवं बलवान् है।[28] सागर चित्तः षु(चेतना अथवा ब्रह्म की भाँति है अर्थात् चित्त अथवा मन षु(चेतना से ही जन्मता है। मन के वष में होने पर इन्द्रियाँ एवं उनकी क्रियाएँ भी स्वतः वष में हो जाती हैं।

वास्तव में ध्यान में सफ्रफल होन के लिए राग, द्वेश और मोह से ऊपर उठ कर अना. सक्त या निर्लिप्त जीवन बताने का प्रयास करना आवष्यक होता है और कार्य गृहस्थ और संन्यासी–दोनों के लिए कठिन अवष्य है, पर उचित साहस, पूर्ण विष्वास और दृढ़ अभ्यास द्वारा इस कठिनाई पर विजय प्राप्त की जा सकती है। दूसरे षब्दों में दृढ़ संकल्प और कठिन अभ्यास द्वारा गृहस्थ और संन्यासी–दोनों ही ध्यान की साध्ना में सफ्रफल हो सकते हैं।

REFERENCE
तत्त्वार्धध्गिमसूत्रा, 7.11: | मैत्रीप्रमोदकारुण्यमाध्यस्थानि च सत्त्वगुणाध्किक्लिश्यमानाविनयेषु। | . पतंजलि, योगसूत्रा, 1.33: मैत्रीकरुणामुदितोपेक्षाणां सुखदुःखपुण्यापुण्यविषयाणां भावनातश्चित्तप्रसादनम्। | . श्रीमद्भागवद्गीता, 2.71: | विहाय कामान् सर्वान्पुमांश्चरति निःस्पृहः। | निर्ममो निरहंकारः स शान्तिमध्गिच्छति।। | . वही, 2.56: दुखेष्वनुद्विग्नमनाः सुखेषु विगतस्पृहः। | वीतरागभयक्रोधः स्थितधीर्मुनिरुचते।। | . श्रीमद्भागवद्गीता, 2.57: | यः सर्वत्रानभिस्नेहस्तत्तत्प्रात्य शुभाशुभम्। | नाभिनन्दति न द्वेष्टि तस्य प्रज्ञा प्रतिष्ठिता।। | . पातंजलयोगप्रदीप, साध्नपाद, 29 | यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहार धरणाध्यानसमाध्यो(ष्टावङैं.ानि। | . पातंजलयोगप्रदीप, विभूतिपाद ः | देशबन्धश्चित्तस्य धरणा। द्य .)षिमासित, अध्याय22, गाथा 14: | सीसं जहा सरीरस्स, जहा मूलं दुमस्स य। | सव्वस्स साहु ध्म्मस्स, तहा झाणं विधेयते।। | . द्र.–कन्हैयालाल, जैन धर्म में ध्यान, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर, 2007, पृ.64. | . श्रीमद्भागवद्गीता, 6.23: | तं विद्यादुःखसंयोगवियोगं योगसंज्ञितम्। | स निश्चतेन योक्तव्यो योगो(निर्विण्णचेतसा।। | . पातंजलयोगप्रदीप, विभूतिपाद.2: | तत्रा प्रत्ययैकतानता ध्यानम्। | . पातंजलियोगप्रदीप, समाध्पाद, 39: यथाभिमतध्यानाद्वा। | . श्रीमद्भागवद्गीता, 6.29: | सर्वभूतस्थमात्मानं सर्वभूतानि चात्मानि। | ईक्षते योगयुक्तात्या सर्वत्रा समदर्शनः।। | . द्रव्यसंग्रह, 59: | मा चिट्ठह मा जंपह, मा चिन्तह किं पि जेव होइ थिरो। | अप्पा अप्पम्मि रओ, इणमेव परं हवेज्झाणं।। | . द्र.– जैन धर्म में ध्यान की भूमिका, सागरमल जैन, प्राकृत भारती अकादमी, जयपुर 2007, पृ.21. द्य . पातंनलयोगप्रदीप, द्य . श्रीमद्भागवद्गीता, 6.27: | प्रशान्तमनसं ह्येनं यागिनं सुखमुत्तमय्। | उपैति शान्तरजसं ब्रह्ममूतमकल्मषम्।। | . अनगारध्र्मामृत, 1.114.117 | प्र.–जैनेन्द्र सि(ान्त कोश, भाग–2, पृ. 494 | . द्र.– आदिपुराण प्रथम भाग, 21.12 | . द्र.– वही, 21.132. | . पातंजलयोगप्रदीप, विभूतिपाद 3: | तदेवार्थमात्रानिर्भासं स्वरूपशून्यमिव समाधि। | . तत्त्वार्थवार्तिक ;राजवार्तिकद्ध, अध्याय षष्ठ, | पृ.505 | ध्यानं योग इति चेत्। नः तस्य वक्ष्यमाणत्वात्। | स्यादेतत्–ध्यानं योगशब्दार्थः न कायवाड.मनस्कर्मेतिऋ | तन्नः किं कारणम्? तस्य वक्ष्यमाणत्वात्। युजेः | समाध्यिचनस्य योगः समाधि ध्यानमित्यन | र्थान्तरम् स तु वक्ष्यते। इहास्त्रावप्रतिपादनार्थत्वात् त्रिाविधक्रिया योग इत्युच्यते। | . णणासार ;ज्ञानसारद्ध, श्लोक 3, | योगतो हि लभते विबंन्नम् योगतोपि किल मुच्चते नरः। योगवर्त्म विषयं गुरोर्गिरा बोध्यमेतदखिलं मुमुक्षुणा।। | . वही, श्लोक 4 | ज्ञानं जिनैः भणितं, स्फ्रफटार्थवादिभिः विगतलेपः। | तदेव–निस्संदेहं, ज्ञातव्यं गुरुप्रसादेन।। | . पातंजलयोगप्रदीप, समाध्पाद, 37: | वीतरागविषयं वा चित्तम्। | . श्रीमद्भागवद्गीता, 6.18: | यदा विनियतं चित्तमात्मन्येवावतिष्ठते। | निःस्पृहः सर्वकामेभ्यो युक्त इत्युच्यते तदा।। | . श्रीमद्भागवद्गीता, 6.21: | सुखमात्यन्तिकं यत्तबु(ग्राह्यमतीन्द्रियम्। | वेत्ति यत्रा न चैवायं स्थितश्चलति तत्त्वतः।। | . श्रीमद्भागवद्गीता, 6.34 | चंचलं हि मनः कृष्ण प्रमाथि बलवद्दृढम्।